द्वारा - ए॰ नागराज शर्मा
भजनाश्रम, नर्मदांचल
अमरकंटक
जिला शहडोल {म०प्र०}

"भारतीय परिवेश/परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति के पहचान के लिए परिवार शिक्षा एवं सामुदायिक सामाजिक संस्थाओं की रचना प्रकृति एवं अर्थों में हुए अन्तरणों का अनिवार्य/आवश्यकीय निर्वाह/योगदान एवं उनकी प्रक्रियात्मक पुर्नस्थापना"

इस सम्मेलन में मुझे आप मनीषियों के समक्ष दुर्ग पॉलीटेकनिक के सौजन्य से एवं आई॰एस॰आई॰एस॰डी॰ के विनम्र आह्वान पर अपने अनुभवमूलक अध्ययन को प्रस्तुत करने का जो गौरवनीय अवसर उपलब्ध हुआ है, इसके लिए अपने सम्पूर्ण समझ से कृतज्ञ हूं और अपना आभार व्यक्त करता हूं ।

मेरी शुभकामना है कि :-

भूमि स्वर्गताम यातु, मनुष्योयातु देवताम् ।
धर्मों सफलताम यातु नित्यम यातु शुभोदयम् ।।

अब प्रस्तावित विषय वस्तु एवं लक्ष्य का व्यवहारिक विश्लेषण करने एवं विकल्पात्मक विश्व दृष्टिकोण से सम्पृक्त परिवार, शिक्षा और समाज संस्थाओं के रचना प्रकृति व अर्थ को परिचय कराने की अनुमति चाहूंगा ।

भारतीय परिप्रेक्ष्य मे, व्यक्ति के पहचान के लिए, पारिवारिक, शैक्षणिक एवं सामुदायिक सामाजिक संस्थाओं के रचना, प्रकृति एवं अर्थों में अब तक के घटित समस्त अन्तरणों का ऐतिहासिक अध्ययन, भारत पर बाह्य आक्रमण के पूर्व काल में, आक्रमणों के शासन काल में और स्वाधीनता के पश्चातवर्ती काल में तात्कालिक मान्य विचारधाराओं और दृष्टिकोणों जो व्यक्ति और समुदाय के क्रियाकलापों, आचरणों, मूल्य, चरित्र व नैतिकता को प्रभावित करती रही है, के साथ करना आवश्यक है । इसी विधि से अन्तरणों का सम्पूर्ण स्वरूप विश्लेषित किया गया है ।

प्रत्येक काल में मनुष्य को पाया जा रहा है, इसलिए मेरा अभिमत है कि ऐतिहासिक अध्ययन में काल पक्ष को गौण समझ कर समीचीन विचारधाराओं व विश्व दृष्टिकोणों को महत्व दिया जाना चाहिये, जो व्यक्ति के पहचान को, सार्वभौमिकता प्रदान करने में प्रयासशील रहे हैं, देश एवं काल के दबाव से मुक्त करने में प्रयासशील रहे हैं, उनमें निहित वैविद्ध्यता को दूर कर निश्चितता प्रदान करने में उद्यत रहे है, एवं व्यवस्था के प्रतिबिम्ब के स्वरूप में स्पष्ट करने की चेष्टा में रहे है, जिससे अध्ययन का स्वरूप समीक्षात्मक हो सके ।

समीक्षा करने पर यह स्पष्ट होता है कि आज तकजितनी भी विचार धाराओं दृष्टिकोण एवं अवधारणाएं मनुष्य को प्रभावित करती रही है, जिन्हें विभिन्न नामो में पृथ्वी पर ख्याति मिली है । वे भारत में भी किसी देश-काल में स्थापित हुई है । वे सब प्रकारान्तर से दो वर्गों के अन्तर्गत पायी जाती है, आदर्शवाद [आध्यात्मिक या दैविक या अधिभौतिक] और भौतिकवाद । वर्तमान में भी मनुष्य को इन दो विचारधाराओं के अतिरिक्त कोई तीसरी विचारधारा प्रभावित करती हुई नहीं पाई जा रही है । जबकि व्यवस्था के अन्तर्गत इन दोनों विचारधाराओं में से किसी भी एक को सार्वभौमिक रूप में नहीं स्वीकारा गया है ।

विगत से वर्तमान तक दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट होता है, कि बहुसंख्यक मनुष्य, आदर्शवाद से अधिक भौतिकवाद से प्रभावित है, और उस पर निर्भर एक व्यवस्था को स्पष्ट करने में सतत् संघर्ष के बीच होते हुये भी प्रयासशील है । इसलिए सामाजिक संस्थाओं के रचना प्रकृति एवं अर्थों में जो भी अन्तरण दिख रहा है वे आदर्शवाद से भौतिकवाद की ओर ही हैं ।

मनुष्य को कभी भी अकेला होना नही पाया गया । जब तक वह स्वयं को किसी संस्था के प्रारूप के अंगभूत स्वीकार न लिया हो तब तक उसकी अवस्था का अध्ययन संस्था के परिप्रेक्ष्य में नहीं हो सकता । मनुष्य ज्यों-ज्यों स्वयं की पहचान को देश और काल की सीमा में अपूर्ण समझता हुआ, अतिरिक्त कहीं और पूर्णता को स्थापित करने की अनिवार्यता से सम्बद्ध होता गया, त्यों-त्यों वह जिन संस्थाओं में अब तक समर्पित होता रहा । उनकी आधार वैचारिक दृष्टि एवं अवधारणा प्रधान होती रही तथा वह सार्वभौमिक प्रयोजन एवं लक्ष्य से प्रेरित होकर अपनी इस पहचान को यथार्थ समझ कर अक्षुण्णता प्रदान करने में प्रयासरत् रहा ।

आदर्श एवं भौतिक विचारधारा के आधार पर एक व्यक्ति की पहचान, क्रमशः एक विरक्त, भक्त और भोगी के रूप में होती है । यह अध्ययन विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक न होकर परिणामात्मक है । आइये इसी क्रम में हम देखें कि पृथ्वी पर किस क्रम में इन विचारधाराओं के आधार पर जन सामान्य द्वारा एक व्यवस्था को पाने के लिये प्रयासशील पाया गया । विगत के 400 वर्ष तथा वर्तमान का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य की पहचान विरक्त व भक्त से भोगी की ओर ही अन्तरित हुई है । इस अन्तरण की प्रक्रिया वैज्ञानिक युग के साथ और तीव्र हुई है । अन्तरण एक घटना है । अतः इसकी सम्भावना तब तक बनी रहेगी जब तक दार्शनिक विश्व दृष्टिकोण में समाधान और प्रमाणिकता के संबंध में संदिग्धता बनी रहेगी । अतः जो अन्तरण होते रहे हैं उनमें दिशा भेद एवं अन्तर्विरोध है ही ।

- 3 -

आदर्शवाद से भौतिकवाद की ओर अन्तरण की प्रक्रिया का मूल कारण आदर्शवाद की अपूर्णता ही रही और भविष्य में यदि भौतिकवाद से अन्तरण होता है तब यह भी उसकी अपूर्णता के कारण ही होगी जो मात्र वैचारिकता में ही नहीं अपितु व्यवहारिक (अव्यवस्था) तथ्य के रूप में प्राप्त है । जिसका साम्य लक्षण व्यक्ति की सीमा में वर्तमान में भी स्पष्ट हो रही है । वह है :- "भोग की विविधता और प्रचुरता अन्ततः जीवन का कोई अर्थ स्पष्ट नहीं कर पा रहा है ।" मनुष्य भोग के उपरान्त भी अतृप्ति से सम्मोहित और पीड़ित हो रहा है जबकि उसका लक्ष्य अतृप्ति नहीं है । ऐतिहासिक अध्ययन स्पष्ट करता है कि विगत में आदर्शवाद के आधार पर जो व्यवस्था देने का प्रयास किया गया वह पूर्ण तृप्ति प्रदान करने के अर्थ में प्रारंभ किया गया, किन्तु असमर्थ रहा । क्योंकि इस व्यवस्था में प्रत्येक संस्थाओं के केन्द्र में, चाहे वह परिवार रहा हो अथवा सामुदायिक समाज परम वस्तु या तो ईश्वर तत्व अथवा आदर्श (भक्तिवादी-विरक्ति वादी चरित्र) रहा है । जिससे जीव और जगत निर्मित एवं नियंत्रित होते हैं तथा आश्रित है, समझा गया । आदर्शवादी व्यवस्था में व्यक्ति के समस्त कार्यकलापों का परम उद्देश्य "मोक्ष" ही निर्धारित पाया गया । इस आश्वासन के कारण मानव को परस्परता में अपने लिए एवं किसी प्रकार के व्यवस्था के लिए प्रयास का ठोस आधार नहीं मिला, क्योंकि मनुष्य केन्द्र से अलग हो गया । फलतः मनुष्य तथा सम्पूर्ण समाज केवल अन्तर्मुखी होने में प्रयास और इच्छारत हो गया । समस्त भौतिकीय रचनात्मकता की आवश्यकता की निर्मितियां सीमित हो गई । समाज गतिशील नहीं हो पाया । फलतः रूढ़िवादिता पनपती गई । इस व्यवस्थात्मक असफलता का कारण केन्द्र का रहस्यात्मक होना ही रहा । यदि यह मान भी लिया जावे कि आदर्श विचारधारा के आधार पर कोई तथाकथित आचरण प्रधान व्यवस्था को प्राप्त करने का प्रयास भी किया गया तो उसकी परिणति भी व्यक्तिवादी एवं रूढ़ीगत सीमाओं में परम्परा के रूप में उपलब्ध हुई । रूढ़िगत परम्परा शाश्वत नहीं हुई और न रही जबकि आदर्शवाद श्रेष्ठता का सम्मान करता है तथा विरक्ति वादी और भक्तिवादी चरित्र व्यक्तिवादी होते हुऐ भी दूसरों के लिए कष्टदायी नहीं हुए । आदर्श वादी विचारधारा में व्यवस्था मायिक होने के कारण विरक्ति और भक्ति समाज व्यवस्था का कारक सिद्ध नहीं हुई । निर्गुण मोक्ष के अभिलाषी विरक्त हुए और सगुण मोक्ष के अभिलाषी भक्त हुए जिसकी स्वीकृति व्यक्ति में पाई गयी जो पारिवारिक व सामाजिक लक्ष्य के रूप में नहीं पाई गई और ना ही स्थापित की जा सकी । इसलिए यह व्यवस्था का रूप नहीं ले पाया । आदर्शवादी परम्परा को बनाये रखने के लिए भय व प्रलोभन का आलम्बन लिया गया जिसे मनुष्य के कर्म से संबंधित कर लिया गया । जो अपनी सम्पूर्णता में आदर्श को समर्पित रहा । इस भय और प्रलोभन का स्वरूप स्वर्ग-नरक और पाप-पुण्य रहा । इस प्रकार एक अव्यवहारिक और परस्पर विरोधी भाव से मनुष्य निर्देशित होता रहा ।

व्यवस्था स्वाभाविकतः सामरस्यता है, इसलिए कई सौ वर्षों तक किसी देश काल की सीमा में वह अपने को बनाये रखने में सफल होता हुआ भी, परन्तु शाश्वत परम्परा के रूप में स्थापित नहीं हो पाया । शिक्षा व्यवस्था का आधार है पर शिक्षा का नित्य वस्तु रहस्य रहा । इसलिए जनसामान्य के लिए मान्यता और आस्था शिक्षा का उपहार रहा है । सामुदायिक संस्थाओं व परिवार ने मात्र आचरण पक्ष को महत्व दिया जिससे व्यक्ति की पहचान अन्तर्विरोधी हो गयी फलतः शिक्षा, व्यक्ति तथा व्यक्तिपरक होती गई । वह सामाजिक दायित्व का स्वरूप नहीं ले पाई । इस प्रकार अपूर्णता के बीच धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों विश्लेषणात्मक तर्क और पदार्थ ज्ञान दैनन्दीन कार्यकलापों में अपना स्थान पाता गया त्यों-त्यों विक्षेप अन्तरणों की संभावना आदर्शवाद से भौतिकवाद की ओर बलवती होती गई फलतः परिणीत भावी हुई । कालान्तर में अन्तरण होता गया ।

पदार्थ विज्ञान और विश्लेषणात्मक तर्क भौतिकवाद के दो प्रमुख स्तम्भ है । जिसने मनुष्य को पदार्थ केन्द्रित कर दिया । जिसने मनुष्य की पहचान को भोगी के रूप में करवा दिया । पदार्थ केन्द्रित क्रिया कलाप का अवसान पदार्थ तक ही है इसलिए व्यवस्था में सतत् परिवर्तन का स्वागत होता गया क्योंकि पदार्थ परिवर्तनशील है भौतिकवाद में पदार्थ के परिवर्तनशीलता को ही परम माना गया इसलिए पदार्थवाद लक्ष्य से संबंधित होने से रह गई । इसका साक्ष्यः परिवर्तनशीलता का उद्देश्य भौतिकवाद में स्पष्ट नहीं है । जिसके कारण मानव से चिरवांछित सार्वभौम व्यवस्था भौतिकवाद के आधार पर नहीं हो पायी । इस अनुपलब्धि के फलस्वरूप ही मनुष्य परिवार और सामुदायिक संस्था को एक वस्तु के रूप में जानने के लिए विवश हुए । जिसमें परिवर्तन उनकी अनिश्चयात्मक गतिशीलता को प्रकट करती है । इस उपक्रम में न तो मनुष्य न परिवार और ना ही समुदाय को परम्परावादी पाया गया । आपसी गठन यंत्रवत् हो गया जो सीमित स्वतंत्रता अथवा यांत्रिकता को स्पष्ट करती है । इस क्रम में मनुष्य, परिवार एवं समुदाय मात्र भोग क्रिया क्षेत्र उत्पादन नियंत्रण और उनकी शिक्षा तक सीमित है । भौतिकवादी शिक्षा वस्तु को ही एकमात्र समाधान का आधार और रूप में स्पष्ट करने का प्रयास करता है जो स्वयं परिवर्तन के वशीभूत होकर अर्न्तविरोधों को निर्माण करता है और वह पुनः समस्या का रूप धारण करती है । इस प्रकार भौतिकवादी विचारधारा के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य न तो प्रमाणिक बनता है और ना ही अनुयायिक बनता है । इस प्रकार वस्तु प्रधान समाज संवेदना प्रधान न होकर आदान-प्रदान पूर्वक यांत्रिक हो गया । फलतः निरंकुशता एवं संत्रास परिलक्षित होने लगी । पुनः परिवर्तन को बनाये रखने के लिए भय को नियंत्रण का मूल तत्व समझा गया । इस प्रकार भौतिकवाद

व्यवस्था को एक स्वचालित, स्वनियंत्रित एवं स्व समाधान परिणामी स्वरूप नहीं दे पाया । इस प्रकार यदि यह मान भी लें कि वस्तु केन्द्रित व्यवस्था होती है तो भी यह स्पष्ट है कि ऐसी व्यवस्था अनिश्चित स्वरूप लिए हुए होती है, जिससे मनुष्य की वास्तविक पहचान नहीं होती । इस प्रकार सामुदायिक समाज का और व्यवस्था का कोई स्वस्थ्य आधार और स्वरूप स्पष्ट नहीं होता ।

भौतिकवाद का उद्देश्य परिणाम, आग्रह एवं स्थापना "भोग" के रूप में स्पष्ट होता है जिसे नकारा नहीं जा सकता । यदि आप कहें कि "भोग" तो भौतिकवाद की भाषा नहीं है तो फिर आप उसे क्या कहेंगे जहां मनुष्य की समस्त प्रतिभा मात्र वस्तु उत्पादन और उसको उपभोग करने में प्रयुक्त हो रही है इसे आप क्या कहेंगे जहां "हेतु" मात्र "शरीर" ही है । "भोग" की परंपरा नहीं बन सकती इसलिए वह व्यवस्था का आधार नहीं बन सकता क्योंकि आज भोग की प्रवृत्ति इतनी विकराल है कि मनुष्य के लिए यह पृथ्वी अपने संसाधनों के साथ कम पड़ गई है । इस तथ्य का प्रमाण पृथ्वी के ऐश्वर्यों का क्षय होना ही है । चरित्र किसी न किसी बिन्दु पर जाकर मनुष्य को स्वतः ही बोध कराती है कि भोग मात्र भोग ही है व्यवस्था नहीं है जो कि उसे अस्वीकार है । भोग की मनुष्य में भंगुरात्मक स्वीकारोक्ति ही भोगवादी व्यवस्था की परंपरा न होने का एक अहम कारण है । भोगवादी व्यवस्था की परंपरा बन भी नहीं सकती, क्योंकि व्यवस्था समाधान प्रस्तुत करती है ना की समस्या । और हम यह पा रहे है कि ज्यों-ज्यों भोगवादी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है त्यों-त्यों संस्थायें समस्यायें ग्रस्त होती जा रही है । यही आज की स्थिति है ।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि ईश्वर या आदर्शवादी चरित्र या पदार्थ को केन्द्र में रखकर किसी भी प्रकार की सार्वभौम व्यवस्था को नही पायी जा सकती है । दोनो प्रकार की विचारधारायें भय और प्रलोभन से प्रेरित शासन भाव को स्पष्ट करती रही है जिसे मनुष्य ने नकार दिया है । जिसका प्रमाण परिवार सामुदायिक समाज का और शासन से असहमति, द्रोह शोषण और युद्ध के रूप में परिलक्षित है । उपरोक्त दोनों मार्ग में आज तक जहां तक व्यवस्था का प्रश्न है, उसमें निराशा और असफलता ही मिली है । जो उसकी अपूर्णता और अक्षमता को स्पष्ट करती है । मनुष्य स्वभावतः निराशा और असफलतावश दुखी नहीं रहना चाह रहा है । और इसी संवेदनशील दायित्व के कारण वह उससे मुक्ति के लिए सदा से अनुसंधान में जुटा रहा है । इसलिए यह हमारा नैतिक दायित्व व कर्तव्य बनता है कि विकल्प ढूंढा जाये और पाया जाय ।

- 6 -

इसी क्रम में मैं अपने अनुसंधान को आपके समक्ष संक्षेप में प्रस्तुत करता हूं ।

जिसे "मध्यस्थ दर्शन" कहा गया है जो स्वयं में मानव व्यवहार, कर्म, अभ्यास और अनुभव के सामरस्यता में मानव केन्द्रित व्यवस्था को स्पष्ट करता है, जिसका विस्तृत विश्लेषण मानव व्यवहार, कर्म, अभ्यास और अनुभव दर्शनों में है । व्यवस्थामूलक चित्रण के लिए समाधानात्मक भौतिकवाद और व्यवहारात्मक जनवाद एवं अनुभवात्मक आध्यात्मवाद मानव मानस के लिए अर्पित है । जिससे आर्वतनशील अर्थ चिंतन मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान, व्यवहारवादी समाज चेतना [मानवीय आचार संहिता] शिक्षा के लिए प्रस्तावित है । मध्यस्थ दर्शन रूपात्मक समग्र अस्तित्व का अध्ययन प्रस्तुत करता है । वर्तमान में अस्तित्व का निभ्रम अध्ययन अध्यावसायिक पद्वति से कराता है ।

अस्तित्व से मनुष्य में क्षमता के रूप में अक्षय बल एवं अक्षय शक्ति समान रूप में निहित है । इसका प्रमाण है, उसके कार्य करते समय पूर्ण स्वतंत्र होना । इसलिए भय एवं प्रलोभन से प्रेरित अथवा आधारित किसी भी क्रम श्रृंखला और शासन को मनुष्य अवश्य बाधित करता है । व्यवस्था के लिए मनुष्य के अतिरिक्त किसी और वस्तु को केन्द्र में नहीं रखा जा सकता है । व्यवस्था की आवश्यकता तथा अपरिहार्यता इसलिए है कि कर्म करते समय स्वतंत्र होते हुए भी मनुष्य अपने प्रत्येक कर्मफल को भोग करते समय परतंत्र होता है । व्यवस्था की आवश्यकता एवं अपरिहार्यता इसलिए भी है कि इस सत्यता को परिवर्तित नहीं किया जा सकता । चूंकि अकेले में कोई कार्यक्रम नहीं है और परस्परता शाश्वत है इसलिए अस्तित्व समग्र "स्वयं में एक व्यवस्था है" । परस्परता मनुष्य को स्वकल्पित या अनुमानित व्यवस्था के लिए सहज प्रेरणा नहीं देती है, जबकि आदर्शवादी तथा भौतिकवादी विचारधाराओं में मनुष्य व्यवस्था के लिए असहजता के साथ प्रयासरत दिखता है । इसलिए अस्तित्व सहज व्यवस्था से परिचित होकर मात्र उसे ही शरण स्थल जान कर उसी को अंगीकार करना होगा । उसी के निर्देशानुसार निर्देशित होना होगा और उसके अनुरूप में ही ख्याल होना होगा । इसी से सुख की चिरअभिलाषा सफल होगी ।

मनुष्य का मूल स्वरूप जीवन अपरिणामी होने के कारण इसके केन्द्र में होना स्वयं ही व्यवस्था की नित्यता है तथा ऐसी व्यवस्था एक अनुस्युत क्रिया ही है । परस्परता शाश्वत होने के कारण सह अस्तित्ववादी होता है । अस्तित्व स्वयं में सह अस्तित्व है ही । अस्तित्व में प्रवृत्ति क्रियाशील है, जिससे जड़ प्रकृति में परिणाम एवं चैतन्य प्रकृति मनुष्य में गुणात्मक विकास घटित होता है । जो व्यवस्था के न्यायसुलभता और विनिमय सुलभता का आधार है । जो स्वयं संबंधों के पहचान व मूल्यों के निर्वाह के विर्विरोधपूर्ण वातावरण का वैभव है एवं आवर्तनशील साधनों का सदुपयोग एवं सुरक्षा है ।

मूल्यों की सुरक्षा एवं सदुपयोग व्यक्ति की सीमा में मानवीयता और व्यवस्था ही है, जो सामाजिकता भी है । यही अखण्ड समाज के परिप्रेक्ष्य में धर्म-नीति तथा राज्य के परिप्रेक्ष्य में राज्य नीति है । इस प्रकार अस्तित्व स्वयं में एक व्यवस्था है । मानवीयता के अर्थ में ही मनुष्य सामाजिक होता है इस तथ्य को निर्विवाद रूप में मध्यस्थ दर्शन (सह-अस्तित्व) के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। जिस प्रकार अस्तित्व शाश्वत है उसी प्रकार मानव केन्द्रित और मानवीयता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था शाश्वत है । आचरण की विविधता न्यूनतम हो जाती है तथा संस्कृति सभ्यता विधि एवं व्यवस्था की सामरस्यता के उच्चतर स्थिति को स्पष्ट करती है । सामरस्यता की स्थिति निर्विरोध एवं अभयपूर्ण होने और समाधान व प्रमाणिकता से समृद्ध होने के कारण प्रत्येक संस्था व्यक्ति की सार्वभौमिकता को स्वीकारता है और उसकी सुरक्षा प्रोत्साहन और स्वतंत्रता को अखण्ड बनाये रखता है । सार्वभौमिकता को स्वीकारने पर व्यक्ति के चारों आयाम विचार, व्यवसाय, व्यवहार व अनुभूति में पूर्ण सामरस्यता होती है यह सामरस्यता ही व्यवस्था में नियंत्रण को उसके स्वभाव के रूप में स्पष्ट करती है । फलस्वरूप जीने की कला समृद्ध होती है । जीने की कला में व्यक्ति के कायिक वाचिक एवं मानसिक स्थिति में कोई अन्तरविरोध नहीं होता है और उसकी तारतम्यता मानवीयता पूर्ण होगी । जो व्यवस्था की सम्पूर्णता में सुरक्षा, शिक्षा तथा अभयपूर्ण वातावरण ही होगा । यही मनुष्य की पहचान को उसके पैसे पैसे होने के अर्थ में सदैव प्रकाशित करती रहेगी ।

अस्तित्व में विकासक्रम व्यवस्था के सम्पूर्ण अध्ययन क्रम में मनुष्य परिभाषित हुआ है । इस अध्ययन में सृष्टा पर आधारित सृष्टि के स्थान पर अस्तित्व में विकास स्पष्ट हुआ है । विकास परिमाणपूर्वक परिवर्तनमूलक है । परमाणु में गठन पूर्णता होने के उपरांत विकास गुणात्मक परिमार्जनपूर्वक, प्रामाणिकता व समाधान ही है । ऐसी अभिव्यक्ति तथा संक्रमण जीवन जागृति मूलक है । विकास क्रम जो अस्तित्व में ख्यात है उसके क्रम में मानवीयता मनुष्य केन्द्रित व्यवस्था की गतिशीलता व निरंतरता है । नियति क्रम में समस्त मनुष्येत्तर प्रकृति पूर्णतया स्वाधीनतापूर्वक मनुष्य की क्षमता व योग्यता के अधीन है । इस व्यवस्था में वस्तु की उपयोगिता व कला मूल्य का यथोचित मूल्यांकन श्रम नियोजन के आधार पर किया जायेगा ।

मानवीयतापूर्ण समाज व्यवस्था में अर्थ व्यवस्था का आधार प्राकृतिक ऐश्वर्य का मूल्य शून्य, संपत्तिकरण के स्थान पर साधनीकरण और श्रम नियोजन एवं श्रम विनिमय के आधार पर वस्तु मूल्यों का और समाज मूल्यों के आधार पर न्याय,का, निर्धारण होगा । ऐसी सार्वभौम व्यवस्था न्याय और विनिमय सुलभ होगी । फलतः मानव मूल्य में समाज मूल्य और समाज मूल्य में वस्तु मूल्य समर्पित रहेगी । अस्तित्व में प्रकृति अपने विकास क्रम में स्वयं को पदार्थावस्था

- 8 -

से प्राणावस्था, प्राणावस्था से जीवावस्था, एवं जीवावस्था से ज्ञानावस्था तक स्पष्ट किया है । मध्यस्थ दर्शन मानव को भौतिक रूप में ज्ञानावस्था की इकाई होने के सत्य को स्पष्ट किया है ।

मानवीय व्यवस्था का प्रकाशित स्वरूप प्रामाणिकता और समाधान ही है । समस्त समस्यायें अव्यवस्था ही है । अस्तित्व ही स्वयं व्यवस्था होने के कारण समस्त अवस्थाओं को पहचानने और निर्वाह करने के लिए मानव सहज बाध्य है । जानने और मानने में अन्तर विरोध ही समस्या है, जबकि व्यवस्था, स्थिति में निर्विरोधिता समाधान व सह अस्तित्व ही है । इसलिए समाधान के अन्तर समाधान की निरन्तरता ही बनी रहती है और जो आदर्श रहस्य नहीं है अपितु पूर्णत: व्यवहारिक है । इसलिए सह अस्तित्व वादी व्यवस्था में मनुष्य अपने समस्त कार्य-कलापों के प्रति जागृत होता है । फलत: सामाजिकता को स्वेच्छापूर्वक कर्तव्य समझ कर वास्तविकता और यर्थाथता के वैभव के लिए मानवीयता पूर्वक समर्पित होने के लिए मनुष्य की बाध्यता होगी। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य स्वयं की सीमा में सर्वतोमुखी समाधानपूर्ण सम्प्रेषणा के रूप में पहचाना जायेगा । जो समाज की पांचों स्थितियों, व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र [देश] और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में पूरक और प्रेरक के रूप में पहचाना जायेगा । ऐसी व्यवस्था में मनुष्य की प्रवृत्ति मानवीय होगी । जिसका प्रत्यक्ष स्वरूप सामाजिक/मानवीय विषय, दृष्टि और स्वभाव का संयुक्त स्वरूप होगा । इसका विस्तृत अध्ययन मानव व्यवहार दर्शन में व्याख्यायित है । जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि मुनष्य शरीर धारण करने मात्र से ही सामाजिक हो जाता हो, ऐसा नहीं है । अपितु मानवीयता पूर्ण विषय दृष्टि व स्वभाव से युक्त होने पर ही सामाजिक हो पाता है । जिसके लिए शिक्षा तथा व्यवस्था दायी है। ऐसी व्यवस्था में प्रत्येक मनुष्य प्रमाणिक सर्वतामुखी समाधानित और शुभमय होता है । यह प्रमाणिकता ही सुख, शांति, संतोष और आनन्द के रूप में ख्यात व वैभवित होता है । यही ख्याति मनुष्य की पहचान को व्यवस्था के पद में आरूढ़ कराती है । जिससे व्यक्ति की प्रकृति मानवीयता और अर्थ व्यवस्था आवर्तनशील होती है । ऐसी व्यवस्था में शिक्षा का विषय वस्तु सह अस्तित्व वादी पद्धति, प्रणाली व नीति सम्बद्ध जीवन विद्या व वस्तु विद्या होगी, जो इसकी रचना होगी । शिक्षा का प्रबोधन विवेक व विज्ञान की क्रमश: पद्धति व प्रणाली होगी जो इसकी प्रकृति होगी । जिसमें व्यवहार व व्यवसाय शिक्षा सम्पन्न होगी । उसका परीक्षण व्यवहाराभ्यास व कर्माभ्यास होगा, जो शिक्षा का अर्थ होगा । ऐसी शिक्षा में आरक्षण सम्भव नहीं होगा । शिक्षित होने का प्रमाण कोई दस्तावेज न होगा बल्कि उस व्यक्ति की उपयोगिता होगी । जो शिक्षा के लक्ष्य को व्यवहार को सामाजिक और व्यवसाय में स्वाबलंबी के अर्थो में स्पष्ट व सिद्ध करेगी । परिवार, समाज व राष्ट्र सह-अस्तित्व को ख्यात कराते, हुये मानवीय पूर्ण व्यवस्था को स्पष्ट करते रहेंगे जिसमें सम्पूर्ण सूत्र व व्याख्या मध्यस्थ दर्शन [सह-अस्तित्ववाद] में स्पष्ट है जैसा कि मध्यस्थ दर्शन में स्पष्ट किया गया है

कि रूपात्मक अस्तित्व अरूपात्मक अस्तित्व में सम्पृक्तता पूर्वक क्रियाशील है, ठीक उसी प्रकार शिक्षा, व्यवस्था व परिवार में स्थापित संबंधों मे निहित मूल्यों में सम्पृक्त प्रत्येक मनुष्य क्रियाशील व व्यवहृत जाने जायेंगे । समाज में मानव मूल्यों से ओत प्रोत होकर क्रियाशील पाये जायेंगे ! इस प्रकार राष्ट्र व अन्तर्राष्ट्र जीवन मूल्य [प्रमाणिकता व समाधान] व व्यवसाय मूल्यों से ओत प्रोत होकर गतिशील पाये जायेंगे ।

उपरोक्त विश्लेषण अधिभौतिकवादी एवं भौतिकवादी विचारधाराओं पर आधारित चरित्र क्रम से विरक्त वादी/भक्तिवादी तथा भोगवादी सिद्ध हुआ । फलत: वह व्यवस्था का आधार अथवा कार्यक्रम नहीं हो पाया । विकल्पात्मक मध्यस्थ दर्शन [सह-अस्तित्ववाद] के विश्व दृष्टिकोण के आधार पर जो प्रस्ताव आपके सम्मुख एक परिचय के रूप में प्रस्तुत किया गया वह एक अनुभव मूलक अध्ययन क्रम है । जिसके आधार पर परिचय में इस तथ्य को स्पष्ट किया जा चुका है कि सह अस्तित्ववादी विश्व दृष्टिकोण के आधार पर मानव केन्द्रित शिक्षा, व्यवस्था और चरित्र में सामरस्यता की नित्य संभावना का अध्ययन है ।

चरित्र और व्यवस्था का प्रेरक स्त्रोत शिक्षा संस्कार एवं उसकी परंपरा ही है । समाज संस्था का स्वरूप अपने बल के रूप में शिक्षा ही है । उसी गति व्यवस्था व चरित्र है । व्यक्ति के मूल्यांकित करने की पद्धति प्रणाली व नीति ही, स्वयं में विचार व अनुभव का स्वरूप है । उसे चरित्र के रूप में अभिव्यक्त होते हुए इसे देखना ही शिक्षा का अभिष्ट और व्यवस्था की प्रक्रिया है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा संस्थान में शिक्षा संस्थान की रचना का स्वरूप स्वयं में प्रबुद्धता है । व्यवस्था संस्था की रचना में मूल्य और मूल्यांकन के आधार पर न्याय व विनिमय सुलभता है । व्यक्ति की रचना व्यवसाय में स्वावलंबन तथा व्यवहार में सामाजिक होना ही है जो सर्वमंगल स्वरूप है । यही अनादि काल का अभिष्ट तथा मध्यस्थ दर्शन का प्रस्ताव है ।

शिक्षा, संस्थाओं की व्यवस्था का व आचरण की प्रेरणा होने के कारण सामाजिकता का सूत्र और व्याख्या ही, उसका स्वरूप है । शिक्षा, विज्ञान और विवेक के रूप में उसकी गरिमा और महिमा है । जिसकी प्रबोधन कार्य कुशलता ही उसकी प्रवृत्ति के रूप में होना स्वभाव सत्य है । ऐसी विज्ञान व विवेक की अविभाज्यअभिव्यक्ति क्षमता स्वयं में प्रबुद्धता है । विज्ञान में कालवादी, क्रियावादी और निर्णयवादी ज्ञान हृदयगंम होता है । विवेकात्मक प्रणाली से शरीर की नश्वर एवं जीवन का अमरत्व तथा व्यवहार नियमों का बोधगम्य हृदयगंम एवं व्यवहार सुलभ होता है । जिसका पूर्ण अर्थ सह अस्तित्व, समाधान, समृद्धि व अभय है । इन तथ्यों को समाज संस्था द्वारा स्वीकारने की स्थिति में मनुष्य में मानवीयता पूर्ण आचरण, व्यवहारिक

रूप में सर्वसुलभ होता है । उसकी निरंतर व्यवस्था में नियति क्रम है । इसे एक व्यवहारिक आकांक्षा से देखें, तो पता चलता है कि अनादिकाल से इसी तथ्य के लिए हम तृषित रहे हैं । इसी गरिमा व महिमा सम्पन्नता के लिए अध्ययनात्मक पद्धति से अनुसंधान होते रहे हैं । इसलिए इस प्रस्ताव को एक कार्यक्रम के रूप में अध्ययन करने के लिए समाज संस्थाओं का उद्यत होना ही जीवन विद्या सम्पन्न सार्वभौम शिक्षा की धारक वाहकता होगी । ऐसी शिक्षा पद्धति प्रणाली, नीति एवं वस्तु संक्षिप्त रूप से निम्नानुसार होगी ।

§अ§ <u>प्रस्तावित पद्धति प्रणाली व नीति</u> :

§1§ शिक्षा का सम्पूर्ण स्वरूप जीवन विद्या और वस्तु विद्या से सम्पन्न रहेगा ।

§2§ शिक्षा का उद्देश्य प्रतिभा और व्यक्तित्व को संतुलित रूप में उदयशील बनाना रहेगा ।

§3§ शिक्षा के परिणाम में व्यवहार में सामाजिक §मानवीयता पूर्णअभिव्यक्ति§ और व्यवसाय में स्वावलंबन§ आवश्यकता से अधिक उत्पादन, क्षमता का विकास§ होने की योग्यता को स्थापित करने की पद्धति होगी ।

§4§ परीक्षा प्रणाली, व्यवहार शिक्षा का व्यवहार में §संबंधों की पहचान व मूल्यों का निर्वाह§ और व्यवसाय शिक्षा का उत्पादन कार्य में सर्वेक्षण परीक्षण द्वारा आंकलित करने की व्यवस्था होगी ।

§5§ शिक्षित व्यक्ति के व्यवहारिक गति के स्वरूप के आंकलन का आधार पारस्परिक अपेक्षा एवं सम्पूर्ण सामाजिक संबंधों में व्यवसाय सिद्ध साधनों को अर्पित समर्पित करने की निष्ठा निर्मित करने की नीति रहेगी ।

<u>शिक्षा के लिये प्रस्तावित विषय वस्तु</u> :-

जीवन विद्या तथा वस्तु विद्या को अविभाज्य स्वरूप प्रदान करने के क्रम विषय वस्तु का निर्धारण। नियमानुसार होता है-

§1§ विज्ञान के साथ चैतन्य पक्ष

§2§ मनोविज्ञान के साथ संस्कार पक्ष

§3§ दर्शनशास्त्र के साथ क्रिया पक्ष

§4§ अर्थशास्त्र के साथ तन-मन-धन रूपी अर्थ के सदुपयोग एवं सुरक्षात्मक नीति पक्ष ।

§5§ राजनीति शास्त्र के साथ मानवीयता के संबंधनात्मक एवम् संरक्षणात्मक नीति पक्ष ।

§6§ समाज शास्त्र के साथ मानवीय, संस्कृति, सभ्यता §विधि एवं व्यवस्था§ पक्ष का

- 11 -

§7§ भूगोल और इतिहास के साथ मानव तथा मानवीयता का

§8§ साहित्य के साथ तात्विक पक्ष । अनुभव बल पर आधारित विचार शैली तथा ऐसी विचार शैली पर आधारित जीने की कला के अध्ययन की व्यवस्था होगी ।

व्यवस्था के व्यवहारिक प्रयोजन §समृद्धि समाधान अभय सह-अस्तित्व§ एवं शिक्षा के संबंध में विस्तृत निष्कर्षात्मक एवं योजनाबद्ध आदान-प्रदान के लिए सभी सामाजिक, तथा समाज सेवी संस्थाओं एवं मनीषियों का आव्हान है ।

सामाजिक व्यवस्था :-

व्यवस्था के लिये जो संस्थायें है वे भले ही सामुदायिक संस्था साम्प्रदायिक अथवा राज्य संस्था क्यों न हो वे दो प्रकार से प्रकाशित हुई है ।§ राज्य नैतिक संस्था 2§ धर्म नैतिक संस्थायें ।

राज्य नैतिक संस्था में राज्य नैतिक संविधान और धर्म नैतिक संस्थाओं में धर्म नैतिक संविधान का होना पाया गया है इन दोनों प्रकार के संस्थाओं में पुन: अन्तरण की आवश्यकता अनिवार्यता और बाध्यता समीचीन हो चुकी है क्योंकि यह दोनों प्रकार की संस्थायें अनेक समुदायों के अर्थ में प्रकाशित है जबकि "समाज समुदाय नहीं होता एवं समुदाय समाज नहीं होता" यह दोनों प्रकार की संस्थायें भले प्रकार से टूट चुकी है । क्योंकि इनके पास व्यवस्था का सूत्र एवं व्याख्या नहीं है और शासन नहीं कर पा रहे है । इसका प्रमाण यही है कि इस धरती पर मानव मानस ने इनके शासन को नकार दिया है। सार्वभौम व्यवस्था चाह रहा है इन दोनों प्रकार की संस्थायें सार्वभौम व्यवस्था और उसके आधारभूत मानवीय आचार संहिता उसके लिए समृद्ध शिक्षा का स्त्रोत नहीं हो पायी है । ईश्वर तंत्रित या वस्तु तंत्रित पद्धति से शासन करने का ही एक मात्र प्रयास सुदूर विगत से स्पष्ट है । वह इस वर्तमान तक अपने घटनाक्रमों को अन्तरणों के रूप में प्रकाशित किया है । इसका कारण सार्वभौम उद्देश्य आधार और कार्यक्रम संबद्ध नहीं हो पाता है । इन सभी घटनाक्रमों और अन्तरणों के अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि अस्तित्व, विकास, रचना, जीवन घटना एवं जीवन जागृति शैली बुनियादी वस्तुओं को मानव करतल गत करने में असमर्थ रहा इसी तथ्यवंश शिक्षा में अपूर्णता रही । फलत: परिवार और सामुदायिक संस्थाओं में अन्तरणों की सम्भावना समीचीन रही है । जो संशक्ता के रूप में बाधक रही । इसके निराकरण में सह-अस्तित्व वादी दृष्टिकोणों पर आधारित मानव केन्द्रित व्यवस्था परस्पर पूरकता के रूप में अथवा सार्वभौम रूप में व्यवहारिक होने की संभावना समीचीन हुई है । यह पूर्णतया नियति क्रम व्यवस्था का अध्ययन और योजना है । प्रस्तावित व्यवस्था का मूर्त रूप मानवीय आचार संहिता §संविधान§ है । यहीप्रबुद्धता संप्रभुता एवं प्रभुसत्ता के रूप में मानव में से के लिए, अस्तित्व में नित्य समीचीन

है इसलिए इसका सार्वभौम होना अपने आप में यथार्थ वास्तविक एवं सत्य है । संविधान मूल्यों पर आधारित मानवीयता पूर्ण व्यवस्था का सूत्र एवं व्याख्या है । जिसका व्यवहारिक पद्वति प्राकृतिक नियमों व्यवहारिक नियमों तथा बौद्धिक नियमों के निर्वाह के रूप में स्पष्ट है । जिसके आधार पर अखण्ड समाज संस्था, शिक्षा और परिवार संस्थायें, मूल्य चरित्र और नैतिकता के संतुलित एवं अविभाज्य आचरण के प्रेरक होंगे जो आचरण पूर्ण व्यक्ति को पहचानने में समर्थ होंगे । ऐसी अखण्ड समाज व्यवस्था के आचरण क्रम में प्राकृतिक नियमों का निर्वाह होना एक स्वाभाविक होगा जिससे पर्यावरण संबंधी सम्पूर्ण समाधान सहज सुलभ होगा ।

मनुष्य की परिभाषा :-

मनाकार को साकार करने वाला तथा मनः स्वस्थ्यता के आशावादी की मनुष्य संज्ञा है । मानवीयता की व्याख्या

मानवीय दृष्टि :- न्यायान्याय - धर्माधर्म - सत्यासत्य
मानवीय विषय :- पुत्रेषणा - वित्तेषणा - लोकेषणा
मानवीय स्वभाव :- धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा और करुणा

मानवीयता को बौद्धिक एवं प्राकृतिक नियमों के निर्वाह के रूप को व्याख्यायित एवं प्रस्तावित किया गया है जो मानवीय आचार संहिता ही है ।

मानवीय आचार में संबंधों की पहचान तथा उनमें निहित मूल्यों के निर्वाह ही प्रधान वस्तु है । संबंध 7 प्रकार से मान्य है ।

(1) माता-पिता - संबंध
(2) पुत्र-पुत्री - संबंध
(3) भाई-बहन - संबंध
(4) गुरू-शिष्य - संबंध
(5) पति-पत्नि - संबंध
(6) स्वामी-सेवक - संबंध
(7) मित्र-मित्र - संबंध

इसके अतिरिक्त जो सामाजिक व्यवहार है वे सम्पर्कात्मक है । सम्पर्कात्मक व्यवहार ऐच्छिक तथा संयोगिक होता है तथा इनके परस्परता में संबंधों के पहचान के आधार पर ही कर्तव्य एवं दायित्व निर्वाह होता है ।

- 13 -

"भारतीय परिवेश/ परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति के पहचान के लिए परिवार, शिक्षा एवम् सामुदायिक, सामाजिक संस्थाओं की रचना प्रकृति एवम् अर्थों में हुए अन्तरणों का अनिवार्य/आवश्यकीय निर्वाह/योगदान एवम् उनकी प्रक्रियात्मक पुनर्स्थापना"

-----x-----x-------x-----

इस सम्मेलन में मुझे आप मनीषियों के समक्ष, दुर्ग पालिटेकनिक के सौजन्य से, एवम् आई. एस. आई एस डी के विनम्र आह्वान पर, अपने अनुभव मूलक अध्ययन को प्रस्तुत करने का जो गौरवमीय अवसर उपलब्ध हुआ है, इसके लिए अपने सम्पूर्ण मानस से कृतज्ञ हूँ और अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

अब मै निम्न शुभ कामना के साथ आपके सम्मुख अपनी बात प्रस्तुत करने की अनुमति चाहूँगा।-

भूमि स्वर्गताम् यातु, मनुष्योयातु देवताम्
धर्मो सफलताम यातु, नित्यम् यातु शुभोदयम्।।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति के पहचान के लिए पारिवारिक, शैक्षणिक एवम् सामुदायिक सामाजिक संस्थाओं के रचना प्रकृति एवम् अर्थों में अब तक के ~~लिए~~ समस्त अन्तरणों का ऐतिहासिक अध्ययन, भारत पर बाह्य, आक्रमण के पूर्व काल में, आक्रमणों के शासन काल में और स्वाधीनता के पश्चातवर्ती काल में तात्कालिक मान्य विचारधाराओं और दृष्टिकोणों, जो व्यक्ति और समुदाय के क्रियाकलापों, आचरणों एवम् चरित्र को प्रभावित करती रही हैं, के साथ करना आवश्यक है। इसी विधि से अन्तरणों का सम्पूर्ण स्वरूप स्पष्ट होता है।

प्रत्येक काल में मनुष्य को पाया जा रहा है, इसलिए मेरा अभिमत है कि उपरोक्त अध्ययन में काल पक्ष को गौण कर उन विचार धाराओं व विश्वदृष्टिकोणों को महत्व दियाजाना चाहिये, जो व्यक्ति के पहचान को सार्वभौमिकता प्रदान करने में प्रयासशील रहे, देश एवम् काल के दबाव से मुक्त कर उनमें निहित वैविध्यता को नष्ट कर निश्चितता प्रदान करने में उद्यत रहे और व्यवस्था के प्रतिबिम्ब के स्वरूप में स्पष्ट करने की चेष्टा में रहे, जिससे अध्ययन का स्वरूप समीक्षात्मक हो।

समीक्षा करने पर यह स्पष्ट होता है कि आज तक जितनी भी विचारधाराएं, दृष्टिकोण एवम् अवधारणाएं मनुष्य को प्रभावित करती रही जो विभिन्न नामों से पृथ्वी पर, विशेष कर भारत में, जो कभी भी

विशेष देश व काल की सीमा में स्थापित हुई हैं, सब प्रकारान्तर से दो वर्गों के अन्तर्गत पायी जाती हैं, वे हैं आदर्शवाद (आधिभौतिक या दैविक) और भौतिकवाद/ वर्तमान में भी मनुष्य को इन दो विचारधाराओं के अतिरिक्त कोई तीसरा विचारधारा प्रभावित करती हुई नहीं पाई जा रही है। हाँ, व्यवस्था के अन्तर्गत इन दोनों विचारधाराओं में से किसी भी एक को सार्वभौमिक रूप में नहीं स्वीकारा गया है।

विगत से वर्तमान तक दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट होता है, कि बहुसंख्यक मनुष्य आधिभौतिक वाद से अधिक भौतिकवाद से प्रभावित है, और उस पर निर्भर एक व्यवस्था को स्पष्ट करने में, सतत संघर्ष के बीच होते हुए भी, प्रयासशील है। इसलिए सामाजिक संस्थाओं के रचना प्रकृतिस्वयं अर्थों में जो भी अन्तरण दीख पड़ रहा है वे आधिभौतिक से भौतिकवाद की ओर ही हैं।

मनुष्य कभी भी अकेला नहीं पाया गया। जब तक किसी संस्था के प्रारम्भ से अंगभूत मनुष्य स्वयम् को न स्वीकार लिया हो तब तक उसके अवस्था का अध्ययन संस्था के परिप्रेक्ष्य में नहीं हो सकता। मनुष्य ज्यों- ज्यों स्वयम् की पहचान को रूप और काल की सीमा, में अपूर्ण समझता हुआ अतिरिक्त कहीं और पूर्णता को स्थापित करने की अनिवार्यता से सम्बद्ध होता गया त्यों- त्यों वह जिन संस्थाओं में समर्पित होता रहा, उसमें उन्हीं संस्थाओं का आधार, तथा उसके अनुसरण में वह/ विचार दृष्टि एवम् अवधारणा प्रधान होती गई तथा इसके अनुसरण में वह सार्वभौमिक प्रयोजन एवम् लक्ष्य से प्रेरित होकर अपनी पहचान को यथार्थता के आधार पर अक्षुण्णता प्रदान करने में प्रयासरत रहा।

आधिभौतिक एवम् भौतिक विचारधारा के आधार पर एक व्यक्ति की पहचान क्रमशः एक विरक्त या भक्त और भोगी के रूप में होती है। यह अध्ययन विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक न होकर ~~परिणामात्मक~~ परीक्षात्मक है। आइये इसी क्रम में हम देखें कि पृथ्वी पर किस क्रम में इन विचारधाराओं के आधार पर जन सामान्य द्वारा एक व्यवस्था को पाने के लिए प्रयासशील पाया गया। विगत के 400 वर्ष तथा वर्तमान का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य की पहचान विरक्ति व भक्ति से भोग की ओर ही

---- 3/-

अन्तरित हुई है और इस अन्तरण की प्रक्रिया वैज्ञानिक युग के साथ और तीव्र हुई है। अन्तरण एक तथ्य है। अतः इसकी सम्भावना ~~नहीं~~ बनी ही रहेगी है। अन्तरण तो होता ही रहा है तथा होता रहेगा हां इसकी दिशा में भेद हो सकता है। अधिभौतिकवाद से भौतिकवाद की ओर अन्तरण की प्रक्रिया का मूल कारण अधिभौतिकवाद की अपूर्णता ही रही और भविष्य में यदि भौतिकवाद से ~~अधिभौतिकवाद~~ अन्तरण होता है तो वह भी इसके अपूर्णता के कारण ही सम्भव होगा। तथा यह अपूर्णता मात्र वैचारिकता में ही नहीं एक तथ्य के रूप में प्राप्त होगी, जो व्यक्ति की सीमा में वर्तमान में भी स्पष्ट हो रही है इस प्रकार के भोग की विविधता और प्रचुरता अन्ततः जीवन का कोई अर्थ नहीं स्पष्ट कर पा रहा है, मनुष्य भोग के उपरान्त भी अतृप्ति को ही उपलब्ध हो रहा है जबकि उसका लक्ष्य अतृप्ति नहीं है। ऐतिहासिक अध्ययन स्पष्ट करता है कि विगत के आदर्शवाद या अधिभौतिकवाद के आधार पर एक व्यवस्था देने का जो प्रयास किया गया वह एक पूर्ण व्यवस्था प्रदान करने में असमर्थ रहा है क्योंकि इस व्यवस्था के प्रत्येक संस्थाओं के केन्द्र में, चाहे वह परिवार रहा हो अथवा समुदाय, सर्वदा परम वस्तु, या ईश्वर तत्व ~~या~~ आदर्श रहा है, जिससे सब निर्मित, नियंत्रित है तथा जिसमें ही सब आश्रित रहे। ~~ऐसी~~ अधिभौतिकवादी व्यवस्था में व्यक्ति के समस्त कार्य कलापों का उद्देश्य मोक्ष ही निर्धारित किया गया। इस तथ्य के कारण मानव को परस्परता में अपने लिए किसी प्रकार की व्यवस्था के लिए प्रयास का ठोस आधार नहीं मिल पाया क्योंकि मनुष्य केन्द्र से अलग हो गया। फलतः मनुष्य तथा सम्पूर्ण समाज अन्तर्मुखी ~~हो~~ गया। समस्त रचनात्मकता की आवश्यकता ही निर्मित नहीं हो पायी। समाज गतिशील नहीं हो पाया फलतः रूढ़िवादिता पनपती गई। इस व्यवस्थात्मक असफलता का कारण केन्द्र का ही रहस्यात्मक होना रहा। यदि यह मान भी लिया जाये कि अधिभौतिक विचारधारा के आधार पर कोई तथाकथित आचरण प्रधान व्यवस्था को प्राप्त करने का प्रयास भी किया गया तो भी उसकी परिणति रूढ़िगत सीमाओं में ही परम्परा के रूप में उपलब्ध हुई। रूढ़िगत परम्परा शाश्वत नहीं हुई और न रही, क्योंकि अधिभौतिकवाद भिक्षा का सम्मान करता है तथा विरक्तिवादी और भक्तिवादी चरित्र दुस्साहसिक न होते हुए दूसरों को कष्टदायी नहीं

----- 5/-

हुए। निर्गुण मोक्ष के अभिलाषी विरक्त हुए और सगुण मोक्ष के अभिलाषी भक्तहुए जिसकी स्वीकृति व्यक्ति में पाई गई, पारिवारिक व समाजिक लक्ष्य के रूप में नहीं पाई गई और न ही स्थापित कीजा सकी और इसीलिए यह व्यवस्था का रूप नहीं ले पाया। अधिभौतिकवादी परम्परा को बनाए रखने के लिए भय और प्रलोभन का आलम्बन लिया गया, जिसे मनुष्य के कर्म से सम्बन्धित कर दिया गया जो सम्पूर्णता में आदर्श को समर्पित रहा। इस भय और प्रलोभन का स्वरूप नरक स्वर्ग और पाप पुण्य रहा। इस प्रकार एक अव्यवहारिक और परस्पर विरोधी भाव से मनुष्य निर्देशित होता रहा है। "व्यवस्था, स्वाभाविकतः समरस्यता है," इसलिए कई सौ वर्षों तक किसी देश काल की सीमा में वह अपने को बनाए रखने में सफल होता हुआ भी शाश्वत परम्परा के रूप में स्थापित नहीं हो पाया। शिक्षा व्यवस्था का आधार है पर शिक्षा, नित्य वस्तु रहस्य रहा इसलिए जनता रूप के लिए मान्यता और आस्था ही शिक्षा का उपहार रहा। समुदायिक संस्थाओं तथा परिवार ने मात्र आचरण पक्ष को महत्व दिया जिससे व्यक्ति की पहचान अन्तर्विरोधी ~~पूर्ण~~ हो गई। फलतः शिक्षा व्यक्तिपरक होती पाई गई, सामाजिक दायित्व का स्वरूप नहीं ले पाई। इस प्रकार अपूर्णता के बीच, धीरे धीरे ज्यों- ज्यों विश्लेषणात्मक तर्क और पदार्थज्ञान केन्द्रित कार्य कलापों में अपना स्थान पाता गया त्यों त्यों विक्षेप और अन्तरणों की सम्भावना अधिभौतिकवाद से भौतिकवाद की ओर बलवती होती गई, परिणत होती गई तथा कालान्तर में ऐसे अन्तरण ~~ने अपना स्थान सुरक्षित बना लिया।~~ होता रहा।

पदार्थ विज्ञान और विश्लेषणात्मक तर्क भौतिकवाद के दो प्रमुख स्तम्भ हैं जिसने मनुष्य को पदार्थ केन्द्रित कर दिया जिसने मनुष्य की पहचान भोगी के रूप में ही करवा दिया। पदार्थ केन्द्रित क्रिया कलाप का अवसान पदार्थ तक ही हो गया। इसलिए व्यवस्था में सतत परिवर्तन का स्वागत किया गया क्योंकि पदार्थ परिवर्तनशील है। भौतिकवाद में पदार्थ की परिवर्तनशीलता को ही परम माना गया है। परन्तु परिवर्तनशीलता का उद्देश्य भौतिकवाद से स्पष्ट

------ 5/-

ए नागराज, प्रणेता एवं लेखक मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद) www.madhyasth.org

नहीं है, जिसके कारण भौतिकवाद पर आधारित व्यवस्था की ~~उपलब्धि अभी तक मनुष्य को~~ नहीं हो पाई। इस अनुपलब्धि के फलस्वरूप ही मनुष्य, परिवार और सामुदायिक संस्थाएं एक वस्तु के रूप में जाने गए जिसमें परिवर्तन उनकी गतिशीलता को प्रगट करती है। इस अनुक्रम में न तो मनुष्य, न परिवार और न ही समुदाय को परम्परावादी पाया गया। आपसी गठन यंत्रवत है जो सीमित स्वतंत्रता को स्पष्ट करती है। तथ्य मात्रभौतिक, क्रिया हेतु उत्पादन नियंत्रण और उसकी शिक्षा ही तक सीमित हो जाता है। शिक्षा वस्तु को ही एक मात्र समाधान के रूप में स्पष्ट करती है जो स्वयं परिवर्तन के वशीभूत होकर अन्तर्विरोधों का निर्माण करता है, जो पुनः समस्या का रूप धारण करती है। इस प्रकार भौतिकवादी विचारधारा के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य न तो प्रामाणिक बनाता है और न ही अनुयायी बनाता है। इस प्रकार वस्तु प्रधान समाज संवेदना प्रधानमही कर आदान प्रदान हो गया, फलतः निरंकुशता परिलक्षित होने लगी। पुनः परिवर्तन को बनाए रखने के लिए भय को नियंत्रण का मूल तत्व समझा गया इस प्रकार भौतिकवाद की व्यवस्था में एक स्थापित, स्व- नियंत्रित तथा स्व परिणामी स्वरूप को नहीं पाया। इस प्रकार यदि यह मान भी लें कि वस्तु केन्द्रित व्यवस्था होती है तो भी यह स्पष्ट है कि ऐसी व्यवस्था अनिश्चित स्वरूप लिए हुए होती है, जिससे मनुष्य की पहचान नहीं होती। इस प्रकार समाज और व्यवस्था को कोई स्वरूप स्पष्ट नहीं होता।

भौतिकवाद का उद्देश्य परिणाम, आग्रह स्थापना "भोग" के रूप में ही स्पष्ट होता है, जिसे नकारा नहीं जा सकता। यदि आप कहें कि भोग तो भौतिकवाद की भाषा नहीं है, तो फिर आप उसे क्या कहेंगे जहाँ मनुष्य की समस्त प्रतिभा मात्र वस्तु उत्पादन तथा उसको उपभोग करने में प्रयुक्त हो रही है, इसे आप क्या कहेंगे जहाँ हेतु मात्र "शरीर" ही है। भोग की परम्परा नहीं बन सकती इसलिए यह व्यवस्था का आधार नहीं हो सकता क्योंकि इस आज ~~आज~~ भोगकी प्रवृत्ति जितनी विकराल है, उसके लिए यह पृथ्वी कम पड़ गई है। इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि हम पृथ्वी के

— 6

स्रोतों का क्षय होते हुए पा रहे हैं। भोग चरित्र किसी न किसी बिन्दु पर जाकर मनुष्य को स्वतः बोध कराती है कि भोग, मात्र भोग ही उसे स्वीकार नहीं है। मनुष्य की यह स्वीकारोक्ति ही भोगवादी व्यवस्था की परम्परा न देने का एक मुख्य अहम कारण है। भोगवादी व्यवस्था की परम्परा बन भी नहीं सकती क्योंकि व्यवस्था समाधान प्रस्तुत करती है न कि समस्या और हम यह पा रहे हैं कि ज्यों-ज्यों भोगवादी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, तभी से व्यवस्था समस्याग्रस्त होती जा रही है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि ईश्वर या आदर्श या पदार्थ को केन्द्र में रख कर किसी भी प्रकार की व्यवस्था नहीं पाई जा सकी है, नहीं सोची जा सकती है। दोनों ही विचारधाराएं "भय और प्रलोभन" से प्रेरित शासन भाव को स्पष्ट करती रही हैं जिसे मनुष्य ने नकार दिया है, जिसका प्रमाण परिवार, समाज और शासन से असहमति, द्रोह और विद्रोह के रूप में परिलक्षित होता है। उपरोक्त दोनों मार्ग में ही, आज तक जहां तक व्यवस्था का प्रश्न है, निराशा और असफलता ही मिली है जो उनकी अपूर्णता तथा अक्षमता को स्पष्ट कर रहा है। मनुष्य निराशा और असफलता वश दुःखी नहीं रहना चाह रहा है और इसी नैतिक दायित्व के कारण वह इससे मुक्ति के लिए सदा से अनुसंधान में जुटा रहा है, इसलिए यह हमारा दायित्व और कर्तव्य बनता है कि विकल्प ढूंढा जाय, पाया जाए और इसी क्रम में मैं अपने अनुसंधान को आपके समक्ष संक्षेप में प्रस्तुत करता हूं जिसे "मध्यस्थ दर्शन" स्वयं में मानव व्यवहार, कर्म, अभ्यास और अनुभव के सामरस्यता में मानव केन्द्रित व्यवस्था को स्पष्ट करता है, जिसका विस्तृत विश्लेषण मानव व्यवहार, कर्म, अभ्यास और अनुभव दर्शन में है। व्यवस्था मूलक चिन्तन के लिए समाधानात्मक भौतिकवाद, व्यवहारवादी समाजवाद तथा अनुभवात्मक अध्यात्मवाद है, जिससे आवर्तनशील अर्थ चिन्तन, मानवीयतावादी मनोविज्ञान, और व्यवहार वादी समाज चेतना निःसृत होती है। "मध्यस्थ दर्शन" व्याख्यात्मक समस्त अस्तित्व का अध्ययन प्रस्तुत करना है। वर्तमान संदर्भ में अस्तित्व का निर्भ्रम अध्ययन यह प्रस्ताव करता है कि

अस्तित्व में मनुष्य से सक्षम अक्षय बल और ~~अक्षय शक्ति~~ अक्षय शक्ति सम्पन्न और कुछ भी नहीं है, इसका प्रमाण है उसके कार्य करते समय पूर्ण स्वतंत्र होना। इसलिए भय और प्रलोभन से प्रेरित अथवा आधारित किसी भी क्रम दुंडला और शासन को मनुष्य अवश्य बाधित करता है। इसलिए व्यवस्था के लिए मनुष्य के अतिरिक्त किसी और वस्तु को व्यवस्था के केन्द्र में नहीं रखा जा सकता है। व्यवस्था की आवश्यकता तथा अपरिहार्यता इसलिए है कि कर्म करते समय स्वतंत्र होते हुए भी वह अपने प्रत्येक कर्मफल के भोग करते समय परतंत्र होता है। व्यवस्था की आवश्यकता एवम् अपरिहार्यता इसलिए भी है कि इस सत्यता को परिवर्तित नहीं किया जा सकता, चूंकि अकेले में कोई कार्यक्रम नहीं है, परस्परता शाश्वत है जो अस्तित्व समग्र को जो स्वयम् में एक व्यवस्था है- निर्देशित करती है। परस्परता मनुष्य को स्वकल्पित या अनुमानित व्यवस्था के लिए सहज प्रेरणा नहीं देता है, जबकि अधिभौतिकवादी तथा भौतिकवादी विचारधाराओं से मनुष्य व्यवस्था के लिए असहजता के साथ प्रयासरत दिखता है। इसलिए अस्तित्व की व्यवस्था से परिचित होकर मात्र उसे ही शरण स्थल स्वीकार कर उसी को अंगीकार करना होगा, इसी के निर्देशानुसार निर्देशित होना होगा और अनुरूप को ही व्याप्त करना होगा। इसी से "सुख" की चिरअभिलाषा की उपलब्धि होगी।

मनुष्य का मूलस्वत्व अपरिणामी होने के कारण इसके केन्द्रस्थल होने पर व्यवस्था की नित्यता होती है, तथा ऐसी व्यवस्था एक अनुस्यूत क्रिया ही है। परस्परता शाश्वत होने के कारण व्यवस्था का चरित्र सह अस्तित्ववादी होता है, अस्तित्व स्वयम् में सहअस्तित्व है ही। क्रियावादी होने के कारण परिणाम मनुष्य में घटित होता है, जो व्यवस्था में न्याय सुलभता और विनिमय सुलभता ही है जो क्रमशः मूल्यों के निर्वाह पूर्वक निर्विरोध आचरण का वैभव है एवम् आवर्तनशील साधनों का सदुपयोग एवम् सुरक्षा ही है। ~~मनुष्य श्रम विनिमय के आधार पर व्यावहारिक मूल्य का निर्धारण स्वभाव मूल्य तथा मानव मूल्य के सन्दर्भ में निश्चित व समर्पित किया जायेगा। स्वरूपात्मक अस्तित्व के विकास क्रम में पदार्थावस्था से प्राणावस्था की इकाई स्वीकार किया गया है।~~

~~व्यवस्था की प्रकाशिका स्वयं समाधान ही है। समस्त~~

साधनो की सुरक्षा एवं सदुपयोग व्यक्ति की सीमा मे मानवीयता ही है। जो सामाजिकता भी है। यही अखण्ड समाज के परिप्रेक्ष्य में धर्मनीति तथा राज्य के परिप्रेक्ष्य मे राजनीति है। इस प्रकार अस्तित्व स्वयम मे एक व्यवस्था है तथा मानवीयता की सीमा में ही मनुष्य सामाजिक होता है, इस तथ्य को निर्विवाद रूप से मध्यस्थ दर्शन मे प्रतिपादित किया गया है। जिस प्रकार अस्तित्व शाश्वत है, उसी प्रकार मानव केन्द्रित और मानवीयता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था शाश्वत हो जाती है। आचरण की विविधता न्यूनतम हो जाती है, तथा संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था की सामरस्यता के उच्चतर स्थिति को स्पष्ट करती है। सामरस्यता की स्थिति निर्विरोध एवं अभयपूर्ण होने के कारण प्रत्येक संस्था व्यक्ति की सार्वभौमिकता को स्वीकारती है और उसकी सुरक्षा, प्रोत्साहन और स्वतंत्रता को अक्षुण्य बनाये रखती है। सार्वभौमिकता स्वीकारने पर व्यक्ति के चारो आयाम विचार, व्यवसाय, व्यवहार व अनुभूति मे पूर्ण सामरस्यता दिखती है। यह सामरस्यता ही व्यवस्था मे निष्ठा को उसके स्वभाव के रूप मे स्पष्ट करती है, फलस्वरूप जीने की कला समृद्ध होती है, इस जीने की कला मे व्यक्ति के कायिक, वाचिक एवम मानसिक स्थिति में कोई अन्तर-विरोध नही होगा और उनकी तारतम्यता मानवीयता पूर्ण होगी जो व्यवस्था की सम्पूर्णता मे सुरक्षा, शिक्षा तथा अभयपूर्ण वातावरण ही होगा, जो मनुष्य के पहचान को उसके वैसे जैसे होने के अर्थ मे सदैव प्रकाशित करती रहेगी।

अस्तित्व की स्थापित व्यवस्था का पूर्ण अध्ययन होने पर ही मनुष्य परिभाषित हुआ है। इस अध्ययन मे सृष्टि स्पष्ट होकर विकास स्पष्ट हुआ है। विकास एक सीमा तक परिवर्तन मूलक है, जिसके उपलब्धि होने पर विकास परिमार्जन मूलक है। परिवर्तन परिमाण मूलक होता है, और परिमार्जन गुण संक्रमण मूलक है। विकास क्रम जो अस्तित्व मे व्याप्त है वही मानवीयता पर आधारित मनुष्य केन्द्रित व्यवस्था की गतिशीलता है, जिसमें समस्त मनुष्येत्तर प्रकृति पूर्णतया स्वाधीनता पूर्वक मनुष्य के क्षमता एवं योग्यता के अधीन है। इस व्यवस्था मे वस्तु की महत्ता का यथोचित मूल्यांकन किया जायेगा न कि अवमूल्यन अथवा अधिमूल्यन।

ए नागराज, प्रणेता एवं लेखक मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद) www.madhyasth.org

इस व्यवस्था मे प्राकृतिक ऐश्वर्य का मूल्य शून्य मानकर श्रम विनिमय के आधार पर व्यावसायिक मूल्य का निर्धारण समाज मूल्य तथा मानव मूल्य के संबंध मे निश्चित व समर्पित किया जायेगा । व्यापक अस्तित्व के विकास क्रम मे पदार्थावस्था से प्राणावस्था, प्राणावस्था से जीवावस्था तथा जीवावस्था से ज्ञानावस्था तक का विकास स्पष्ट है । मनुष्य को ज्ञानावस्था की इकाई स्वीकार किया गया है ।

व्यवस्था का प्रकाशित स्वरूप समाधान ही है, समस्त समस्या अव्यवस्था ही है । अस्तित्व व्यवस्था होने के कारण समस्त अव्यवस्था पहचानना और निर्वाह करना, जानने और मानने मे परस्पर विरोध ही है, जबकि व्यवस्था की स्थिति मे निर्विरोधिता और सह अस्तित्व ही है । इसीलिये पूर्ण समाधान के अनन्तर समाधान की निरन्तरता ही बनी रहती है, जो आदर्श नही है, रहस्य नही है अपितु पूर्णतः व्यवहारिक है । इसीलिये सह अस्तित्व वादी व्यवस्था मे अपने समस्त कार्यकलापों को स्वेच्छा पूर्वक और कर्तव्य समझकर वास्तविकता और यथार्थता के बोध के लिये समर्पित होने की मनुष्य की बाध्यता होगी । इस तरह मनुष्य अपने व्यक्ति की सीमा में एक समाधान पूर्ण व्यवस्था के रूप मे पहचाना जायेगा जिसकी रचना जड़ एवं चैतन्य प्रकृति का संयुक्त स्वरूप है, जो अपने पक्षों, स्थितियों व्यक्ति परिवार, समाज, राष्ट्र (देश) और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं मे पूरक और प्रेरक के रूप मे पहचाना जायेगा । ऐसी व्यवस्था मे मनुष्य की प्रवृत्ति मानवीय होगी जिसका प्रत्यक्ष स्वरूप सामाजिक/मानवीय विषय, दृष्टि और स्वभाव का संयुक्त स्वरूप होगा । इसका विस्तृत अध्ययन मानव व्यवहार दर्शन में व्याख्यायित है । इसमें व्याख्यायित किया गया है कि केवल मनुष्य शरीर धारण करने मात्र से ही सामाजिक हो जाता हो ऐसा नही है अपितु मानवीयता पूर्ण विषय, दृष्टि व स्वभाव से युक्त होने पर ही सामाजिक हो पाता है, जिसके लिये शिक्षा तथा व्यवस्था दायी है । ऐसी व्यवस्था में मनुष्य प्रमाणित जो संयम के होता है । यह प्रमाणिकता सत्य, संतोष, शान्ति और आनन्द के रूप मे व्यक्त होगी । यही व्याप्ति मनुष्य को व्यक्ति के पहचान को विरोध पद मे अवरुद्ध करती रहेगी । ऐसी व्यवस्था मे शिक्षा की क्रियाशील अस्तित्व होगा, उसी का अध्ययन अनुभव मूलक होगा जो शिक्षा की प्रकृति होगी । ऐसी शिक्षा मे प्रतिभा का

आचारसंहिता होगी।
व्यवस्था का रचना मानवीयता आचरणपूर्वक समाधान के रूप में
ही सम्पूर्ण समुदाय कल्पना और आचरणपूर्वक समाधान
प्रतिष्ठित होने का सहज व व्यवहारिक होगी।
व्यवस्था का प्रक्रिया स्वाभाविक प्रतिष्ठित तथा सुलभता होगी।
उपलब्ध होगा। व्यवस्था का अर्थ न्याय व विनिमय सुलभता प्रति रूप
शिक्षा तथा व्यवस्था के रचना प्रक्रिया व अर्थ के प्रतिरूप
अनुरूपता में परिवार व्यवस्था होने पर ग्राम परिवार है।
रूप में होगी।
शिक्षा व्यवस्था समस्याओं का परिहार के रूप में होगी। आदि का अध्ययन
प्रकृति मूलभूत विचार अवधारणा से सम्पन्नता होगी।
होगी फलतः उसका उत्पादन सहज एवं समाधान ~~समस्याओं का परिहार~~ ~~उत्पादन व्यवस्था होगा~~
इसी क्रम में प्रत्येक परिवार स्वतंत्र (~~आवश्यकता~~ उत्पादन विनिमय
~~(मध्यस्थ ...)~~ ~~... सम्भावना)~~ स्वावलम्बन (~~...~~
सुलभता)

आक्षेप सम्भव नहीं होगा । शिक्षित होने का प्रमाण कोई दस्तावेज न होकर स्वयम उस व्यक्ति की उपयोगिता होगी, जो वह शिक्षा के व्यवहार में सामाजिक और व्यवसाय में स्वावलम्बी-क अर्थ से स्पष्ट व सिद्ध करेगा । परिवार, समाज व राष्ट्र अस्तित्व को व्यक्त करता हुआ व्यवस्था को स्पष्ट करता रहेगा। जैसा कि मध्यस्थ दर्शन में दर्शाया गया है स्वत्पात्मक अस्तित्व व स्वत्पात्मक अस्तित्व में सम्पृक्ततावश क्रियाशील है, ठीक उसी प्रकार परिवार में स्थापित सम्बन्धों के मूल्यों में तथा मूल्यों से समस्त सदस्य ओत प्रोत होकर क्रियाशील पाये जायेंगे । परिवार समाज में मानव मूल्यों से ओतप्रोत होकर क्रियाशील पाये जायेंगे । इसी प्रकार राष्ट्र व्यवहार मूल्य व व्यवसाय मूल्यों से ओत प्रोत होकर गतिशील पाये जायेंगे ।

उपरोक्त विश्लेषण भौतिकवादी एवं अधिभौतिकवादी विचारधाराओं पर आधारित चरित्र का क्रम से विरक्तिवादी भक्तिवादी तथा भोगवादी सिद्ध हुआ फलतः वह व्यवस्था का आधार, कार्यक्रम नहीं हो पाया । विकल्पात्मक मध्यस्थ दर्शन (सह अस्तित्ववाद) के विशुद्ध दृष्टिकोण के आधार जो प्रस्ताव आपके सम्मुख एक परिचय के रूप में प्रस्तुत किया वह एक अनुभव मूलक अध्ययन क्रम है, जिसके आधार पर परिचय में इस तथ्य को स्पष्ट किया जा चुका है कि सह अस्तित्ववादी विश्व दृष्टिकोण के आधार पर मानव केन्द्रित शिक्षा, व्यवस्था और चरित्र में सामरस्यता की नित्य संभावना है।

चरित्र और व्यवस्था की शिक्षा संस्कार और परम्परा ही है । समाज संस्था का स्वरूप अपने बल के स्वरूप में शिक्षा ही है । उसकी गति, व्यवस्था और चरित्र को व्यक्ति में मूल्यांकित करने की जो पद्धति, प्रणाली और नीति है जो स्वयम में अनुभव और विचार का स्वरूप है, वह चरित्र के रूप में अभिव्यक्त होता हुआ देखना ही शिक्षा का अभीष्ट और व्यवस्था की प्रक्रिया है । (इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा संस्थान में शिक्षा संस्थान की रचना का स्वरूप अपने में प्रबुद्धता का, व्यवस्था संस्था की रचना में मूल्य और मूल्यांकन के आधार पर न्याय और विनिमय सुलभता का,

--

व्यक्ति की रचना में व्यवसाय के स्वावलम्बन तथा व्यवहार में सामाजिक होना ही सर्वमंगल स्वरूप है। यही अनादि काल का अभीष्ट तथा मध्यस्थ दर्शन का प्रस्ताव है।

शिक्षा संस्था ही समाज की प्रेरणा, सामाजिकता का सूत्र और व्याख्या का स्वरूप है। जो स्वयं विज्ञान व विवेक के रूप में उसकी गरिमा है जिसका प्रबोधन कार्यकुशलता ही उसकी प्रवृत्ति के रूप में होना स्वाभाविक सत्य है। ऐसे विज्ञान और विवेक की अविभाज्य अभिव्यक्ति क्षमता स्वयं में प्रबुद्धता है। विज्ञान में कालवादी, क्रियावादी और निर्णयवादी ज्ञान को हृदयंगम करने की प्रवृत्ति और विवेकात्मक प्रणाली से शरीर का नश्वरत्व, जीवन का अमरत्व तथा व्यवहार के नियमों को बोधगम्य एवं सुलभ करना ही प्रवृत्ति एवं परिणाम होता है। इन तथ्यों को समाज संस्था द्वारा स्वीकारने की स्थिति में मनुष्य में मानवीयता पूर्ण चरित्र को व्यवहार रूप में पाने की निरन्तर व्यवस्था नियतिक्रम के रूप में है। यदि इसे एक व्यवहारिक आकांक्षा से देखें तब हमें पता चलता है कि अनादिकाल से इसी तथ्य के लिये हम तृषित रहे हैं। और इसी गरिमा और महिमा सम्पन्नता के अध्यवसायिक अनुसंधान होते रहे हैं। इसलिये इस प्रस्ताव को एक कार्यक्रम के रूप में अध्ययन करने के लिये उद्यत होना ही कल की शिक्षा में जीवन विद्या सम्पन्न सार्वभौम शिक्षा की धारकवाहकता होगी। ऐसी शिक्षा पद्धति प्रणाली व नीति और वस्तु के सम्बन्ध में संक्षिप्त रूप निम्नानुसार होगा।

(अ) प्रस्तावित पद्धति, प्रणाली व नीति-

(1) शिक्षा का सम्पूर्ण स्वरूप जीवन विद्या और वस्तु विद्या से सम्पन्न रहेगा।

(2) शिक्षा का उद्देश्य प्रतिभा और व्यक्तित्व को संतुलित रूप में उदयशील बनाना होगा।

(3) शिक्षा के परिणाम में व्यवहार में सामाजिक (मानवीयता पूर्ण अभिव्यक्ति) और व्यवसाय में स्वावलम्बन (उपभोग से अधिक उत्पादन क्षमता का विकास) होने की योग्यता को स्थापित करना

(4) परीक्षण प्रणाली - व्यवहार शिक्षा का व्यवहार मे (सम्बन्धों की पहचान और मूल्यों का निर्वाह) और व्यवसाय शिक्षा का उत्पादन कार्य मे सर्वेक्षण परीक्षण (पर्यवेक्षण) द्वारा आंकलन करने की व्यवस्था होगी ।

(5) शिक्षित व्यक्ति के व्यवहारिक गति के स्वरूप के आंकलन का आधार पारस्परिक अपेक्षा एवं समर्पण के आधार पर सामाजिक सम्बन्धों मे व्यवसाय सिद्ध साधनों की अर्पित समर्पित करने की निष्ठा रहेगी ।

शिक्षा के लिये प्रस्तावित विषयवस्तु :-

जीवन विद्या तथा वस्तु विद्या को अविभाज्य स्वरूप प्रदान करने क्रमशः पर विषय वस्तु का निर्धारण नियमानुसार होता है ।

(1) विज्ञान के साथ चैतन्य पक्ष,

(2) मनोविज्ञान के साथ संस्कार पक्ष,

(3) दर्शन शास्त्र के साथ क्रिया पक्ष,

(4) अर्थ शास्त्र के साथ तन-मन, धनरूपी अर्थ के सदुपयोग एवं सुरक्षात्मक नीति पक्ष ,

(5) राज्य राजनीति शास्त्र के साथ मानवीयता के संवर्धनात्मक एवम् संरक्षणात्मक नीति पक्ष,

(6) समाज शास्त्र के साथ मानवीय, संस्कृति, सभ्यता (विधि एवं व्यवस्था) का,

(7) भूगोल और इतिहास के साथ मानव तथा मानवीयता का,

(8) साहित्य के साथ तात्विक पक्ष (अनुभव बल पर आधारित विचार शैली तथा ऐसी विचार शैली पर आधारित जीने की कला) के अध्ययन की व्यवस्था होगी ।

शिक्षा के सम्बन्ध मे विस्तृत निष्कर्षात्मक एवम् योजनाबद्ध आदान प्रदान के लिये सभी सामाजिक संस्थाओं का आवाहन करता हू ।

सामाजिक व्यवस्था :-

व्यवस्था के लिये जो सामाजिक संस्थाये है भले ही वह साम्प्रदायिक क्यों न हो, दो रूप मे प्रकाशित है -

(1) राजनैतिक संस्थाएं (2) धार्मिक संस्थाएं

राजनैतिक संस्थाओं मे राज्य संविधान तथा धार्मिक संस्थाओं मे धर्म संविधान का होना पाया जाता है। इन दोनो संस्थाओ मे अन्तरण की आवश्यकता समीचीन हो चुकी है क्योंकि यह पाया जा रहा है कि यह दोनो प्रकार की संस्थाये अनेक समुदायो के रूप मे प्रकाशित है। यह दोनो प्रकार की संस्थाएं अब टूट चुकी है। इसका प्रमाण यह है कि इस धरती पर मानव मानस ने इनके शासन को नकार दिया है और व्यवस्था चाहता है। इन दोनो प्रकार की संस्थाओं मे सार्वभौम व्यवस्था और उसके आधारभूत सार्वभौम आचार संहिता का अभाव है। ईश्वर तान्त्रिक अथवा वस्तु तांत्रिक पद्धति से शासन करने का प्रयास क्रम सुदूर विगत से इस वर्तमान तक अपने घटनाक्रम को प्रकाशित कर दिया है। इन सभी घटनाक्रमो और अन्तरणों के अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि मानव मानस शासन के स्थान पर एक स्वच्छ व्यवस्था चाहता है।

इस सम्बन्ध मे सह अस्तित्ववादी विश्व दृष्टिकोण पर आधारित व्यवस्था स्वयम परस्पर पूरकता के क्रम मे, होने से नियतिक्रम का अनुकरण है। प्रस्तावित व्यवस्था का मूर्तरूप (संविधान) मानवीय आचार संहिता है। यही प्रबुद्धता, सम्मति एवं प्रभुसत्ता के रूप मे मानव के मानव से तथा मानव के लिये अस्तित्व मे नित्य समीचीन है। इसलिये इसका सार्वभौम होना अपने आपमे यथार्थ, वास्तविक एवम् सत्य सिद्ध होता है। इस संविधान मे - मनुष्य को परिभाषित मानवीयता को व्याख्यायित तथा प्राकृतिक नियमो के निर्वाह स्वरूप को व्यवस्थापित किया जाकर उसके आधार पर मानव आचार संहिता का स्वरूप तैयार किया गया है।

मनुष्य की परिभाषा :- मनाकार को साकार करने वाला तथा मनः स्वस्थता के आशावादी को मनुष्य संज्ञा है।

मानवीय दृष्टि - न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य,
मानवीय विषय - पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा,
मानवीय स्वभाव - धीरता, वीरता, उदारता, दया
कृपा, करुणा।

मानवीयता के अनुरूप ही ~~व्यवहारिक~~ व्यावहारिक नियम, बौद्धिक नियम तथा प्राकृतिक नियम के निर्वाह के स्वरूप को व्याख्यायित किया गया है, जो कि मानव आचार संहिता का स्वरूप बना है।

मानवीय आचार मे संबन्धो की पहचान तथा उनमे निहित मूल्यो का निर्वाह ही प्रधान कृत है। संबन्ध ~~केवल~~ 7 प्रकार से गण्य है -

(1) माता-पिता सम्बन्ध
(2) पुत्र-पुत्री सम्बन्ध
(3) भाई-बहन सम्बन्ध
(4) गुरु-शिष्य सम्बन्ध
(5) पति-पत्नी सम्बन्ध
(6) स्वामी-सेवक सम्बन्ध
(7) मित्र-मित्र सम्बन्ध

इसके अतिरिक्त जो सामाजिक व्यवहार है सम्पर्कात्मक है। सम्पर्कात्मक व्यवहार ऐच्छिक तथा सांयोगिक होता है तथा इसमे परस्परता मे कर्तव्य एवं दायित्व पूर्णतः निश्चित नहीं होते।

सामाजिक सम्बन्ध स्थापित है तथा इनमें ~~सम्बन्ध~~ सामाजिक मूल्य निहित होते है, जिनका निर्वाह हो ~~जाना ही सम्बन्ध का निर्वाह हो जाना~~ ही सम्बन्ध का निर्वाह होजाता है।
उपरोक्त इंगित सम्बन्धो मे समस्त सम्बन्ध गण्य हो जाते है। इन सम्बन्धो के पहिचानने की अभिव्यक्ति ही मूल्योभिव्यक्ति होना सर्वेक्षण पूर्वक सिद्ध हो जाता है। यही सामाजिक मूल्य का तात्पर्य है। यह मूल्य स्थापित मूल्य तथा ~~शिष्ट~~ शिष्ट मूल्य के रूप मे निम्नानुसार है।

(1) सम्बन्धो मे निहित स्थापित मूल्य :-

कृतज्ञता, गौरव, श्रद्धा, प्रेम, विश्वास, वात्सल्य, ममता, सम्मान तथा स्नेह।

स्थापित सम्बन्धो मे विश्वास साम्य मूल्य है, जिसके अभाव मे किसी सम्बन्ध का निर्वाह सम्भव ही नही है तथा प्रेम पूर्ण मूल्य है जिससे अधिक का व्यवहार मे उपलब्ध नही है ।

(2) सम्बन्धो मे निहित शिष्ट मूल्य -

सौम्यता, सरलता, पूज्यता, अनन्यता, सौजन्यता, उदारता, अरक्षयता, तथा निष्ठा ।

शिष्ट मूल्यो मे सौजन्यता साम्य ~~शिष्ट~~ शिष्ट मूल्य है, जिसकी अभिव्यक्ति प्रत्येक सम्बन्ध के निर्वाह मे होती ही है तथा अनन्यता पूर्ण शिष्ट मूल्य जिससे अधिक की ~~अभिव्यक्ति की~~ संप्रेषणा सम्भव ~~संभव~~ ही नही है ।

इस प्रकार सम्बन्धो एवं मूल्यो और नियमो के आधार पर ~~मनुष्य~~ मानव के कायिक वाचिक ~~तथा~~ मानसिक तथा कृत, कारित व अनुमोदित भेद से किये जाने वाले सम्पूर्ण आचरण के लिये आचार संहिता का स्वरूप देने की व्यवस्था की गई है । ऐसे आचार संहिता का संरक्षण ही व्यवस्था तथा चरित्र का ~~तात्पर्य~~ उपलब्धि है ।

मानवीयतापूर्ण
ऊपर सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य व्यवस्था तथा धर्म व्यवस्था ~~की चर्चा~~ की गई है । अभी तक समाज के लिये जो भी व्यवस्थाये दी गई है उनका ~~आधार~~ राज्य अथवा धर्म ही रहे है ।

[handwritten marginal insertions, partly illegible: ^ शिक्षा/न्याय/उत्पादन एवं शिक्षा को वास्तविकता पर आधारित रचना प्रकृति व अर्थ... ; ईश्वर या वस्तु पर आधारित, शासन ; साम्प्रदायिक]

मानवीयता पूर्ण से मानव
^व्यवस्था के आचरण स्वरूप ~~प्रमुखतः~~ सार्वभौमिकता स्वयम मे तन, मन व धनरूपी अर्थ का सदुपयोग एवं सुरक्षा ही है, ~~क्योंकि~~ इसीलिये यही ~~स्वयं~~ नैतिकता का आधार होता है । जागृति क्रम मे नैतिकता एक अनिवार्य अभिव्यक्ति है । इसी क्रम मे अर्थ का सदुपयोग धर्मनीति के रूप मे तथा अर्थ की सुरक्षा राज्यनीति के रूप मे नियतिक्रम के अनुसार इंगित होता है । राज्य और धर्म दोनो ही अर्थ के लिये ही सिद्ध होते है । ऐसी व्यवस्था मे राज्य व्यवस्था का आधार राजनीति तथा धर्म व्यवस्था का आधार धर्मनीति का होना ~~स्वाभाविक~~ जागृति सहज रूप से सिद्ध होता है । राज्य और धर्म दोनो ही अर्थ (तन, मन व धन) के लिये है अतः ~~स्वाभाविक~~ राज्यनीति और धर्मनीति परस्पर पूरक सिद्ध होते है, यह इसलिये भी कि अर्थ के ~~सुरक्षा~~ सुरक्षा के बिना सदुपयोग तथा सदुपयोग के बिना सुरक्षा सम्भव नही है । इन तथ्यो से ~~समृद्ध~~ समृद्ध तथा ~~सम्बन्ध~~ समाधान शिक्षा से यह स्पष्ट ...